

## 7. यशपाल

यशपाल के उपन्यासों को सामने रखकर उनकी कहानियों का अध्ययन करने से कई रोचक तथ्य उद्घाटित होते दिखाई देते हैं। अपने उपन्यासों में वह शुरू से ही राजनीतिक संदर्भों को उठाते ही नहीं, राजनीतिक घटनाओं को विस्तार से कथाबद्ध करते हैं और उन घटनाओं से निर्मित सोच और उसके बदलाव की समूची प्रक्रिया को भी आंकते चलते हैं। इसके विपरीत उनकी प्रारंभिक कहानियाँ जो अधिकांश में 'पिंजरे की उड़ान' में संग्रहीत हैं और कुछ उनके दूसरे संग्रह 'वो दुनिया' में, राजनीतिक स्तर पर कहीं भी लेखक के राजनीति से उसकी गहरी संलग्नता और सरोकार की छाप नहीं छोड़ती हैं। इस अंतर के कितने ही ज्ञात-अज्ञात कारण हो सकते हैं। लेकिन प्रमुख बात यह है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य मालूम होती है, कि ये कहानियाँ, प्रायः सबकी सब उसके लंबे जेल जीवन के दौरान लिखी गई हैं। आपसी बातचीत में कई बार यशपाल ने इस तथ्य की ओर संकेत भी किया था। ये कि उनकी सन् '34 से सन् '38 के बीच लिखी कहानियाँ हैं जो जब-तब पत्रिकाओं में निकलती रही थीं और जिनका संग्रह जेल मुक्त होने के बाद सन् '39 में स्वयं यशपाल ने ही प्रकाशित किया था क्योंकि काफी सोचने-विचारने के बाद एक लेखक के रूप में ही जमने का उन्होंने निश्चय किया था। इस तरह 'पिंजरे की उड़ान' की प्रायः सभी और 'वो दुनिया' की कुछ कहानियाँ उस काल की लिखी हुई कहानियाँ हैं जब न सिर्फ उनके जीवन का उद्देश्य बहुत स्पष्ट नहीं था बल्कि चौदह वर्षों की लंबी सज़ा के परिणामस्वरूप उसे लेकर कोई विशेष आशा भी नहीं रह गई थी। अपने जीवन की तरह इन कहानियों का भविष्य भी तब एकदम अस्पष्ट और अंधकारमय था। उनके लिखे जाने के दौरान भी ऐसी आशा एकदम नहीं थी कि वे कभी प्रकाशित हो सकेंगी। ये कहानियाँ एक तरह से जेल के यातनापूर्ण, और यातना केवल शारीरिक ही नहीं होती है, समय को झेल सकने के शगल के रूप में लिखी गई थीं। इनके लिखे जाने के दौरान यशपाल ने स्वयं गहरे विस्मय भाव से यह महसूस किया कि इनके लिखे जाने ने समय को किस कदर आसान कर दिया है और इनके बिना वह कितना मुश्किल रहा होता!

इस सारी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर इन कहानियों के स्वरूप पर कदाचित् अधिक वस्तुपरक ढंग से चर्चा की जा सकती है। इस संग्रह में ऐसी कोई कहानी नहीं है जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण किया गया हो। जैसा कि यशपाल का अपना एक खास ढंग रहा है। इस संग्रह के अकेले अपवाद को छोड़कर उनके सारे संग्रहों

के नाम किसी न किसी कहानी को ही आधार बनाकर रखे गए। 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियां एक विशेष मनःस्थिति की कहानियां थीं और वहां किसी दूसरी चीज के मुकाबले उस मनःस्थिति का महत्व ही सबसे ज्यादा था जिसका सीधा परिणाम वे कहानियां थीं। ये कहानियां किसी तीखे वैचारिक संघर्ष से अपने को बचाकर चलती हैं, और शायद इसी कारण कुछ आलोचकों ने इन्हें भावमूलक कहानियों का नाम भी दिया है, लेकिन संग्रह के शीर्षक से व्यंजित सारी भावाकुलता के बावजूद, वे अधिकांश में भावुकता और रोमानियत से मुक्त रह सकी हैं। अज्ञेय की इसी दौर की कहानियों के समान न तो ये कहीं क्रांति की रोमानी अवधारणाओं की शिकार होती हैं और न ही जैनेन्द्र की कहानियों की तरह अपने प्रभाव के लिए कैसे भी भाषाई छल का सहारा लेती हैं। इन कहानियों को पढ़कर लेखक के वैचारिक आग्रहों को, वे जो और जैसे भी हैं, तो समझा ही जा सकता है, उनकी अभिरुचियों और संस्कारों के साथ ही कदाचित् उनके आधार पर यशपाल के जीवन की कितनी ही स्थूल घटनाओं और प्रसंगों का साम्य भी उनमें पाया जा सकता है। प्रेमचंद की कहानियों के मुकाबले निजी जीवन की अभिज्ञता का स्वाद उनमें खूब गाढ़ा होकर उतरा है। यही कारण है कि अपनी प्रभाव क्षमता के कारण इस संग्रह की कुछ अच्छी कहानियां आज प्रायः चालीस वर्ष बाद भी उतनी ही आकर्षक लगती हैं। एक लेखक के सरोकारों को लेकर यशपाल इन कहानियों के लिखे जाने के दौरान भले ही बहुत स्पष्ट न हों, कम-से-कम यह तो वह नहीं ही जानते थे कि आगे चलकर अपने अपूर्ण राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह कलम को ही प्रमुख अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करने वाले हैं, लेकिन एक लेखक की हैसियत से उनके सरोकारों का संकेत इस संग्रह की भूमिका में पर्याप्त स्पष्ट रूप से मिल जाता है...हमारी कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएं ही होती हैं...। यशपाल की कल्पना अतीत सुख-दुख को अनुभूति के चित्र बनाकर उससे ही संतोष करने को तैयार नहीं है। इन कहानियों की मूलाधार अपनी कल्पना के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए वह स्पष्ट लिखते हैं '...(वह) आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिए नया नक्शा तैयार करने का यत्न करती है।..'

बीस कहानियों के इस संग्रह में शायद आधी से ज्यादा कहानियां ऐसी हैं जो रचनात्मक और प्रभाव-क्षमता की दृष्टि से बेहद साधारण कहानियां लगती हैं लेकिन उसमें पांच-सात कहानियां ऐसी भी जरूर हैं जो एक कहानीकार के रूप में आज की यशपाल की प्रतिष्ठा और गौरव का कारण मानी जा सकती हैं।...इन कहानियों के संदर्भ में निजी जीवन की जिस अभिज्ञता की बात कही गई है वह बहुत कुछ वही

चीज है जिसे 'नई कहानी' के आंदोलन के जमाने में अनुभव की प्रामाणिकता के नाम पर चलाने की धुआंधार कोशिश की गई थी। वैसे सैद्धांतिक दृष्टि से आगे चलकर यशपाल लेखक के लिए अनुभव की इस सीमाबंदी का विरोध करते हैं। लेकिन उनकी अभिरुचियों और अनुभव की इस सीमाबंदी का विरोध करते हैं। लेकिन उनकी अभिरुचियों और अनुभव के छींटों ने इन कहानियों को निश्चय ही एक मनोहरी सरसता दी है। कश्मीर, अविभाजित पंजाब और जिन दूसरे स्थानों का वर्णन इन कहानियों में है, वे सब सही स्थल हैं जहां यशपाल अपने क्रांतिकारी जीवन और फरारी के दिनों में घूमते-भटकते रहे थे। इनमें से कितनी ही कहानियों में आर्थिक संपन्नता और वैभव की चकाचौंध से परे दूर-दराज पहाड़ी गांवों की सरलता और निश्छलता सुरक्षित है। आज शायद बहुतों को यह न मालूम हो कि अपने लंबे जेल जीवन से मुक्ति के बाद यशपाल के मन में एक विकल्प एक चित्रकार के रूप में जमने का भी था। अपने कारावास के दिनों में एक ओर यदि वह कलम से अभ्यास करते रहे थे तो दूसरी ओर चित्रकारी का शौक भी उन्हें था और उस जमाने में कई चित्र अभी हाल तक उनके यहां सुरक्षित थे। 'नीरस-रसिक'—और आगे चलकर 'चित्र का शीर्षक' जैसी कहानियां उनकी तत्कालीन अभिरुचियों और आग्रहों को एक साथ स्पष्ट करती मालूम होती हैं। जीवन और जगत के प्रति निर्मित और सुस्थिर होती दृष्टि का संकेत भी इनकी कितनी ही कहानियों से मिल जाता है।..

'मक्रील' और 'नी-स-रसिक' दोनों ही कहानियों में जीवन से कटे सौंदर्य और तत्संबंधी कल्पना में विरोध प्रकट करके जीवन के स्वीकार का आग्रह स्पष्ट है। 'मक्रील' के कवि की जिस भावुक कल्पना पर संसार मुग्ध है, स्वयं कवि के लिए वह जीवन की वास्तविकता के अभाव में अकेलेपन की झतना का प्रतीक बन जाती है। 'नीरस-रसिक' की सविता जीवन के प्रति किसी कदर भावुक और रोमानी दृष्टिकोण की शिकार है जो कहीं न कहीं उसकी किताबी समझ का ही नतीजा है। सौंदर्य वह स्वांतः सुखाय और परिवेशगत दबावों से ऊपर मानकर चलती है। कश्मीरी युवती के प्रति उसकी ईर्ष्या, जो प्रदुम्न के लिए उसके चित्रों का मॉडल बनने को आती है, कविता की इसी सोच की देन है जिसके कारण प्रदुम्न के तर्क उसे नीरस और उस कश्मीरी युवती के प्रति उसकी सहानुभूति उसे अकारण पक्षपात जैसी लगती है। सविता के लिए जो प्रदुम्न की नीरसता है वह वस्तुतः उसके संयत आचरण और जीवन एवं जगत के प्रति उसकी सही समझ का परिणाम है जिससे सविता जैसी सोच वाले हजारों लोगों को एक संस्कारगत धक्का जैसा लगता है।..

यशपाल की इन प्रारंभिक कहानियों को लेकर इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है कि इनकी अधिकांश कहानियां भावुकता और रोमानियत का विरोध करके जीवन के प्रति एक यथार्थ और वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देती हैं। इस ओर संकेत किया जा चुका है कि ये कहानियां इसी काल में लिखी गई अज्ञेय की कहानियों की भांति क्रांति की भावुक और रोमानी अवधारणाओं से अपने को मुक्त रखकर चलती हैं। इन कहानियों में कौसी भी क्रांति को लेकर कौसे भी भावुक प्रलाप की जरूरत लेखक को नहीं महसूस होती। इसके विपरीत वह समाज के बदलाव के लिए, एक नया नक्शा तैयार करने में, अपने क्रांतिकारी विचारों का बड़ा संयत और समझदारी भरा उपयोग करता दिखाई देता है। 'प्रेम का सार' और 'पहाड़ की स्मृति' जैसी कहानियां नागरिक सभ्यता से अछूते पहाड़ी गांवों में रहने वाले लोगों के भोले विश्वासों को आधार बनाकर लिखी गई कहानियां हैं लेकिन भावुकता के संस्पर्श से वे एकदम अछूती रह सकी हैं। 'प्रेम का सार' में एक पहाड़ी युवती जवानी से बुढ़ापे तक अपने उस पति की प्रतीक्षा करती रहती है जो कमाई के लिए गांव छोड़कर लाहौर चला गया था और जिसकी वापसी के लिए वह अपनी भैंसों और जमीन बेच-बेचकर पैसा भिजवाती रही है। दूसरों के जवान बेटों को खेतों में काम करते देखकर उसके कलेजे में एक हूक-सी उठती है। जब कितनी ही बार रूप मंगवाने और वादे करने पर भी वह वापस नहीं लौटता है तो वह स्वयं उसे तलाश करने के लिए लाहौर को चल पड़ती है। अपने पति फज्जा की एक पुरानी वास्कट और एक लंबा छुरा बहुत एहतियात से छिपाकर वह अपने कपड़ों में रख लेती है। उस बूढ़ी औरत को जब चरस की चोरी के शक में थाने ले जाया जाता है तो उसकी तलाशी लिए जाने पर यह सामान बरामद होता है। छुरे के बारे में पूछे जाने पर वह स्पष्ट स्वीकार करती है कि वह उसी का है। और आगे यह पूछे जाने पर कि वह उसका क्या करेगी, वह किसी कदर बिगड़ कर जवाब देती है... 'उसने मेरी तमाम उमर बरबाद कर दी, मैंने उसके लिए सब कुछ किया, उसके लिए मैं बांझ बनी। अब वह मेरे साथ नहीं जाएगा तो मैं उसे कत्ल कर दूंगी!?' जबदस्त तलाश के बाद जब जेल में से निकालकर फज्जा को उसके सामने लाकर खड़ा किया जाता है तो वे एक-दूसरे को पहचान सकने की स्थिति में भी नहीं होते हैं... 'संभवतः रफिया तेईस-चौबीस बरस के हट्टे-कट्टे फज्जा की बात सोच रही थी। पीर हुसैन ने जब दोनों का परिचय कराया तो कितनी ही देर तक रफिया वज्राहत की भांति दांतों तले उंगली दबाए फज्जा की तरफ देखती रही, मुख से उसके शब्द न निकल सका... वह स्वीकार न कर सकी कि यह वही उसका फज्जा है जिसके लिए उसने आयु भर तपस्या की है।' निराशा और

मोहभंग से पैदा हुए धक्के को संभालना उसके लिए मुश्किल होता है। पीर हुसैन के समझाने के बावजूद उसकी आंखों से चिंगारियां झड़ती रहती हैं। क्रोध में, अपनी ज़िंदगी खराब कर देने के लिए वह फज्ज़ा को कितनी ही गालियां देती है और फिर उसकी अब तक बड़े यत्न से संभाल कर रखी हुई वास्कट वहीं छोड़कर, अपनी चादर उठाकर वह स्टेशन की ओर चल देती है। इस कहानी में किसी भी लेखक के लिए भावुक हो जाने का खतरा खूब स्पष्ट है लेकिन प्रेम और समय का लंबा अंतराल जैसे ही भीषण मोर्चों पर भी लेखक अपने को उस रखलन से बचाकर रख सका है और जीवन की एक बहुत बड़ी वास्तविकता पर बड़े सही ढंग से, पूरी वस्तुपरकता के साथ, संकेत कर सका है। कहानी दरअसल रफिया के स्टेशन की ओर चल देने के लिए ही खत्म हो जाती है। लेकिन भावुकता का विरोध लेखक को एक दूसरे ढंग से जरूर भावुक बना देता है और वह कहानी के अंत में एक फिजूल-सी टिप्पणी जोड़ देता है... 'उस समय कुछ कहने का अवसर न था परंतु ख्याल आया- यह है तीस बरस की प्रेम साधना का सार।' " इसी तरह 'पहाड़ की स्मृति' में भी एक निश्चल पहाड़ी युवती अपनी पांच वर्ष की बेटी को लेकर अपने प्रेमी की राह ताकती है और हर आने वाले आदमी से लाहौर गए परसराम के बारे में पूछती रहती है--इस दुःख के साथ कि उसकी बेटी ने तो बाप की सूरत तक नहीं देखी है क्योंकि वह उसके चले जाने के बाद हुई थी। अब जब वह बड़ी और समझदार होने लगी है उसके पूछे गए सवालों का जवाब उसे देते नहीं बनता है। इन कहानियों में पहाड़ी जीवन की सरलता और प्राकृतिक सौंदर्य के विसादृश्य में शहरी जीवन के दुर्निवार आकर्षण के साथ ही पहाड़ों की आर्थिक विपन्नता और परिवेशगत दबावों को भी पर्याप्त कुशलता के साथ समेट लिया जा सका है। 'दुखी दुखी' में अभावों और मजबूरी की राह गुजर कर ही दूसरों की पीड़ा को महसूस कर सकने की संभावना पर जोर दिया गया है। 'मृत्युंजय' में एक ओर यदि डाक्टरी के पेशे को एक मिशन के तौर पर अपनाकर, अपने चारों ओर के अभिशप्त और उपेक्षित तत्वों से जुड़कर ही मृत्युंजय हो सकने का संकेत है तो दूसरी ओर उन सामाजिक रूढ़ियों की प्रच्छन्न भर्त्सना भी खूब स्पष्ट है जिनके कारण नूरी को उस बर्बर हादसे का शिकार होना पड़ता है।

इन कहानियों के संदर्भ में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि इनमें यशपाल की उस व्यंग्य-दृष्टि की कौंध पूरी तरह सुरक्षित है जिसके सहारे वह आगे चलकर सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों के प्रति इस कदर आक्रामक रूख अख्तियार करते दिखाई देते हैं। 'नीर रसिक' में यह व्यंग्य यदि संस्कारों के तनाव और संघर्ष के रूप में दिखाई देता है तो 'हृदय' में उस भावुकतापूर्ण रोमानी रवैए पर जो ज़िंदगी की

कीमत पर सौंदर्य के रसास्वादन के प्रति मोहाविष्ट है।.... 'प्रायश्चित' इसलिए महत्वपूर्ण मानी जा सकती है क्योंकि वह आर्यसमाजी निषेधात्मकता पर यशपाल की पहली कहानी है जिसमें यशपाल की आगे चलकर विकसित होने वाली आक्रामकता के संकेत देखे जा सकते हैं।....

शुरू में ही इस ओर संकेत किया जा चुका है कि यशपाल के उपन्यासों के मुकाबले उनकी कहानियां राजनीतिक संदर्भों से अपेक्षाकृत अपने को बचाकर चलती हैं। परिदृश्य की व्यापकता और ब्यौरों की सहज सुविधा के कारण यह काम वह अपने उपन्यासों से लेते हैं। अपनी कहानियों के द्वारा वह क्रांति की मानसिकता के निर्माण की बात तो करते हैं लेकिन कुल मिलाकर उस क्रांति का क्षेत्र पूरी तरह से सामाजिक है और नये समाज के निर्माण की इस सक्रिय तत्परता को ही वह संभवतः एक नये समाज का नक्शा तैयार करने की जिम्मेदारी और साहसिकता से जोड़कर देखना चाहते हैं। नये निर्माण की इस तत्परता के लिए वह विचारों की भूमिका पर इतना अधिक बल देने लगते हैं कि कभी-कभी तो उनकी कहानियों में विचार की सत्ता ही सर्वोपरि हो उठती है। विचारों पर इस अतिरिक्त बल का ही परिणाम यह होता है कि कभी-कभी कहानी के खत्म हो जाने पर वह बेजरूरत एक टिप्पणी जोड़कर बाकायदा कहानी का निष्कर्ष दोहराते दिखाई देते हैं।

यशपाल के कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं में ऐसे सूत्र पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनके आधार पर कहानी-रचना के उनके उद्देश्य के साथ ही उनकी कहानियों की रचना-प्रक्रिया पर भी रोशनी पड़ती है। 'वो दुनिया' में संग्रहीत कहानियों के बारे में यशपाल लिखते हैं... 'इन कहानियों में उस दुनिया की चाह उठती है और इसीलिए दिल पुकार उठता है--'वो दुनिया।'<sup>5</sup> इस वक्तव्य में सामाजिक बदलाव के लिए एक ललक की ध्वनि खूब साफ है। लेकिन यह ललक उन्हें कैसे भी आदर्शवादी रोमानी पलायन की ओर न ले जाकर सामाजिक जड़ता और अंधविश्वासों की परतों को छीलने में तत्पर करती है और इसके लिए वह विचारों और तर्क की भूमिका पर विचार करते हुए कहते हैं.... 'कर्म की शक्ति का स्रोत मेरी तर्क की अथवा विचार की शक्ति ही है। मैं मनुष्य समाज का एक औसत प्राणी हूँ। अपनी परख से मैं मानव-समाज के इस गुण को पहचान सकता हूँ और इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि समाज की संचालक शक्ति उसके विचारों की गति में होती है इसीलिए क्रांति के पूर्व सदा तर्क का तूफान आता है या कहिए, क्रांति के बादल तर्क के तूफान पर ही चढ़कर आते हैं।'<sup>6</sup> यशपाल की मान्यता है कि सौंदर्य रचना का एकमात्र उद्देश्य असुंदर का

परिष्कार और बहिष्कार ही हो सकता है। सुंदर और असुंदर का भेद या असुंदर को सुंदर बना सकने का प्रयत्न विवेक और तर्क के बिना असंभव है। इसीलिए वह तर्क और विवेक को ही सौंदर्य के मूल उत्स के रूप में स्वीकार करते हैं। इस कारण ही वह अतीत के प्रति भी एक मोहमुक्त तार्किक दृष्टि अपना सकने में सफल हुए हैं और तत्कालीन सामाजिक वैषम्य और अंतर्विरोधों को वह पर्याप्त गहराई से पकड़ सके हैं। अतीत के प्रति इस विवेक विहीन संस्कारों की जड़ता से ग्रस्त दृष्टि ही मनुष्य की परिस्थितियों से संघर्ष की प्रवृत्ति को कुंठित करके उसे अपनी परिस्थितियों का अवशदास बना देती है। यशपाल कला की सामाजिकता एवं प्रसंगानुकूलता की हिमायत करते हैं... 'कलाकार के भाव और कल्पना जीवन के अनुभवों की भूमि पर ही खड़े हो सकते हैं। यदि कला में जीवन की समस्या आना दोष है तो फिर कला का प्रत्यक्ष रूप है क्या? किसी भी कलाकार की कृति जीवन का एक रूप पाए बिना प्रकट नहीं हो सकती। प्रश्न है—कला में प्रकट जीवन का रूप किस समस्या का संदेश देता है? भाव शून्य, संदेश कला को क्या हम कला कह सकते हैं? यहां भी निर्णय का आधार हमारे संस्कार और अभ्यास ही हैं। जिन भावों और संदेशों को हम परंपरा और अभ्यास से स्वीकार करते आए हैं कला में उनका समावेश हमें केवल शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा जान पड़ता है, प्रचार नहीं।'<sup>7</sup> यशपाल चूंकि बदली हुई स्थितियों के अनुरूप बदली हुई नैतिकता के कायल हैं, उनकी कहानियों में संस्कारगत जड़ता और नये विचारों का द्वंद्व का अंकन एक तरह से उनका मूल सरोकार ही लगने लगता है। वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि समाज ने अपने विकास के क्रम में अपने आपको बदल लिया है, इसीलिए परंपरागत मान्यताओं और धारणाओं को लेकर पुनर्विचार की आवश्यकता है... 'अनेक पुरानी मान्यताएं और परंपराएं आज की परिस्थितियों में बहुत उखड़ी-उखड़ी लगती हैं। इनसे समाज में अव्यवस्था ही उत्पन्न होती दिखाई देती है। समाज का अंग होने के इन अव्यक्त कारणों को सुझा सकने में बल्कि ज्यादा संतोष अनुभव होता है। इसी ओर मेरी अधिक प्रवृत्ति होती है; यानी असुंदर को प्रकट कर देने की ओर; अपने समाज को अंधविश्वास के घोखे से बचाने की ओर।'<sup>8</sup> ऐसी तीखी सामाजिक चेतना से अपनी यात्रा शुरू करने वाले किसी भी लेखक के लिए स्वाभाविक रूप में सबसे बड़ा खतरा कलात्मक और रचनागत दबावों की उपेक्षा करके उद्देश्यपरकता के नाम पर एक उपदेशक और सुधारक बन बैठने का होता है। यशपाल के अपने सामने भी यह खतरा खूब साफ रहा है। सैद्धांतिक दृष्टि से वह स्वीकार करते हैं... 'एक प्रश्न यह है कि कहानी की श्रेष्ठता की कसौटी क्या होनी चाहिए? कहानी की श्रेष्ठता उससे प्राप्त होने वाले उपदेश या आदर्श से आंकी जाए

अथवा उसके निर्वाह और शिल्प चातुर्य से? इसका उत्तर स्पष्ट है। कहानी का प्रयोजन केवल नैतिक मान्यताओं की घोषणा करना नहीं है बल्कि रसोद्रेक द्वारा नैतिकता और मान्यता को ग्राह्य रूप में उपस्थित करना है। इसीलिए प्रेमचंदजी की दो कहानियाँ 'नमक का दरोगा' और 'कफ़न' में से कला की दृष्टि से 'कफ़न' को ही मान्यता दी जाती है। यह कहानी केवल दलित मानव का चित्रण होने पर भी अत्यंत प्रिय हुई है। '...' साहित्य की सामाजिक और क्रांतिकारी भूमिका को अपना मूल सरोकार घोषित करने वाला कोई भी लेखक रचना में शिल्प को प्रमुख और सर्वोपरि मान कर नहीं चल सकता। लेकिन फार्म और कंटेंट की पुरानी बहस में अब मार्क्सवादी आलोचक भी इसे पर्याप्त उदार और खुले तौर पर स्वीकार करते दिखाई देते हैं कि शिल्प के प्रति कैसी भी उपेक्षा या उदासीनता एक गलत या अधूरी मार्क्सवादी समझ का ही परिणाम हो सकती है। यशपाल की एकदम शुरू की कहानियों से लेकर उनकी अंतिम कहानियों में 'लैंप शेड', 'बिना रोमांस', 'सच्ची पूजा' और 'नैतिक बल' आदि कहानियाँ मूल रूप से विचारों को आधार बनाकर लिखी हुई कहानियाँ ही हैं। लेकिन फिर भी प्रभाव की दृष्टि से वे बेहद सामान्य स्तर की रचनाएं बनकर क्यों रह गई हैं? 'लैंप शेड' में उन्होंने ताजी बर्बरता को अंकित किया है और 'नैतिक बल' में मज़दूरों के अबाध शोषण पर टिकी सामंती नैतिकता की ले-दे की गई है। इनमें से शैलीगत सहजता के कारण 'नैतिक बल' पर्याप्त पठनीय रचना बन पड़ी है लेकिन फिर भी इन कहानियों की बेहद सीमित प्रभाव क्षमता का कारण जीवन के अंतरंग और आत्मीय संपर्क से अभाव में ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। यह अकारण नहीं है कि अपने अंतिम दौर की इन अधिकांश कहानियों में यशपाल अपने अतीत की ओर मुड़ते दिखाई देते हैं और पुरानी घटनाओं और प्रसंगों को जैसे-तैसे कहानी का रूप देकर उस पर 'प्रयोजन' की चिप्पी सांट देते हैं। उदाहरण के लिए 'नैतिक बल' की यह अंतिम कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं... 'इस नैतिक बल का आधार उसके दोनों चाय इस्टेट पर काम करते अठारह सौ आदमियों का श्रम! इस नैतिक भुगतान में उसके प्रति मज़दूर का पचहत्तर पैसे का भाग...'<sup>10</sup> कहना नहीं होगा कि यह समूचा वक्तव्य मूल कहानी के साथ कहीं कोई संगति नहीं रखता है और इसीलिए कहानी और वक्तव्य के बीच की दशर उसकी प्रभाव क्षमता को लील जाती है।...

यशपाल की कहानियों के क्रमिक विकास को लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद रहा है। कुछ लोग हैं जिन्हें उनमें किसी किस्म का कोई विकास दिखाई ही नहीं देता है। लेकिन शांतिप्रिय द्विवेदी ने बहुत पहले यशपाल की कहानियों में उनके क्रमिक



विकास को रेखांकित करने की कोशिश की थी--भले ही यशपाल के तब तक के संग्रहों के कालक्रम को उन्होंने थोड़ा उलट-पुलट दिया हो। उन्होंने 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियों को भावमूलक, 'वे दुनिया' की कहानियों को समस्यामूलक और 'ज्ञानदान' की कहानियों को यथार्थमूलक कहकर पहचानने की कोशिश की थी। समग्र रूप से इन कहानियों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था... 'उनमें लेखक केवल चरित्रकार है, प्रचारक नहीं। इन कहानी संग्रहों की भाषा प्रेमचंद की तरह सीधी-सादी, किंतु उनसे अधिक चित्रात्मक है। प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण का चित्रण थोड़े में पूर्ण सजीव है। कथानक, चित्रण चरित्रांकन और शैली की दृष्टि से यशपाल, एक शब्द में प्रेमचंद की तिरोहित प्रतिभा की तरुण शक्ति हैं। '11 अपने इसी लेख में शांतिप्रिय द्विवेदी ने गठन की दृष्टि से यशपाल की कहानियों को 'बहुत साफ, सुडौल और संक्षिप्त' माना है, एक पौधे की तरह।

व्यक्तिगत रूप से मुझे ऐसा लगता है कि यशपाल की कहानियों में कैसे भी विकास की खोज शिल्प के बजाय विचारों को ही आधार बना कर की जानी चाहिए। 'पिंजरे की उड़ान' से 'अभिषप्त' तक की- सन् '39 से सन् '44 तक-उनकी कहानियों में विचारों के विकास की गति पर्याप्त धीमी रही है। इन कहानियों में धीरे-धीरे सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों की उनकी पकड़ गहराती गई है। 'भस्मावत चिंगारी' से 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ'- सन 46 से 54 तक-उनके विचारों में एक विस्फोटक आक्रामकता दिखाई देती है। रचनात्मक दृष्टि से भी इस अवधि में लिखी गई कहानियों की संख्या और दौरों के मुकाबले कहीं ज्यादा है। इस काल में उनके वैचारिक विस्फोट का एक सहज कारण देश की अस्थिर और संक्रमणशील स्थिति भी हो सकती है। इसके बाद 'उत्तमी की मां' से 'भूख के तीन दिन'--सन् 55 से सन् '68 तक-और इसके बाद की उनकी अंतिम कहानियों में भी फिर एक उतार की स्थिति दिखाई देती है। यदि इसे बहुत सरलीकृत वक्तव्य न माना जाए तो कहा जा सकता है कि जीवन के आत्मीय और विश्वसनीय अंकन के साथ विस्फोट वैचारिकता का संयत समन्वय ही यशपाल की कहानियों के मामले में एक आदर्श स्थिति ठहरती है। इन दोनों में से जहां एक चुनने की विवशता हो वहां भी कोरी वैचारिकता के बदले जीवन के आत्मीय और अंतरंग अंकन को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियों की तुलना में उनकी अंतिम कहानियों की सीमित प्रभाव क्षमता के कारणों को सही ढंग से समझा जा सकता है। यशपाल की सारी परवर्ती कहानियों के, 'उत्तमी की मां'

से बाद के संग्रहों तक, कलात्मक ह्रास का मूल कारण भी जीवन के तेज बहाव से किसी सीमा तक उनका कट जाना ही रहा है। सैद्धांतिक दृष्टि से इसे स्वीकार करने के बावजूद व्यवहार के स्तर पर इसके अभाव को उनके रचनात्मक दबावों की अपेक्षाकृत शीर्णता के रूप में ही लिया जाना चाहिए।...

'पिंजरे की उड़ान' के बाद के संग्रहों की कहानियों पर उस रूप में उनकी प्रचारग्रस्तता को लेकर हल्ला भले ही न मचाया गया हो जैसी स्थिति यशपाल के पहले उपन्यास से ही शुरू हो गई थी। लेकिन इन कहानियों को एक साथ पढ़ने पर यह साफ हो जाता है कि लेखक के विचारों में धीरे-धीरे गहराई भी आती जा रही है और विस्तार भी। इन कहानियों में कभी किसी निहायत मामूली बात को हल्की चुटकी लेने के अंदाज में कहा गया है तो कभी समाज की असंगत और अन्यायपूर्ण स्थितियों पर खूब जम कर व्यंग्य किया गया है। इन कहानियों को देखने से एक ओर बात की ओर ध्यान जाता है—वह यह कि प्रेमचंद के बाद किसी भी दूसरे लेखक ने इतनी बड़ी तादाद में न तो अपने आसपास के विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और संस्कारों के पात्रों के एक जीवंत और विश्वसनीय संसार की रचना की और न ही इतने ज़्यादा मुस्लिम पात्रों को आधार बनाकर कहानियां लिखीं जितनी यशपाल ने। इन कहानियों में पुलिस जुल्म से सताए हुए और आतंकित लोग हैं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों में पले शहरी सभ्यता के विकास से अछूते पहाड़ी गांवों में बसे लोग हैं—धर्म, मनोती और देवी-देवताओं के नाम पर आज भी जिनका शोषण होता है। पहाड़ों पर तफरीह को जाने वाले लोग हैं जो परीक्षा की तैयारी की आड़ में सड़कों पर घूमने निकली लड़कियों के नंबर तय करते हैं। पढ़ी-लिखी उपेक्षित महिलाएं हैं, रूढ़ियों और सामाजिक विसंगतियों की शिकार भी हैं और वेश्याएं भी। एक ओर अपनी सफेदपोशी और अभिजात वर्ग के घेरे में बंद लोग हैं जो इंसान की तरह जीना बर्दाश्त नहीं कर सकते और दूसरी ओर शोषित, उपेक्षित, दुखी और सताए हुए लोग हैं जो अपने हक की लड़ाई के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार कर रहे हैं। वे दूसरों की दया और करुणा के बदले आत्मनिर्णय के अधिकार को वरीयता देते दिखाई देते हैं।

'संन्यासी' में बढ़ी हुई पारिवारिक जिम्मेदारी और उसके परिणामस्वरूप पैदा हुए आर्थिक तनाव देखे गए सपनों की पपड़ी बड़ी निर्ममता से छील देते हैं और उस स्थिति में पलायन ही मोह मुक्ति का पर्याय बन जाता है। 'दो मुंह की बात' में साधना और जसवंत अपने-अपने स्त्री और पुरुष-वर्गों के प्रतिनिधि पात्र हैं और एक ही घटना की उनकी अलग-अलग व्याख्या संस्कारों में जकड़ी दकियानूसी स्त्री की

मानसिकता पर व्यंग्य बनकर छा जाती है जो पुरुष की हर बात को अकारण शंका की निगाह से देखकर बड़े भोंड़े ढंग से उसे रिएक्ट करती है। 'मोटर वाली कोयले वाली' में स्त्री की आर्थिक सुरक्षा की भावना को अंकित किया गया है—स्त्री किसी भी वर्ग और स्तर की क्यों न हो इस मामले में कहीं न कहीं सब एक-सी साराचर हैं। आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित बने रहने की इस इच्छा के पीछे कदाचित् कहीं न कहीं हमारे समाज में स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता और उसके लिए जरूरी स्थितियों का अभाव भी रहा है। 'दूसरी नरक' में पहाड़ी मुस्लिम समाज में, स्त्री को हीन और अपदार्थ समझने वाली सोच तो है ही वे रूढ़ संस्कार भी हैं जो अपनी ही सुंदर बीवी को असुंदर बना देने की मजबूरी पैदा करते हैं ताकि दूसरों की निगाह उस पर न पड़े। इस स्थिति से बचने के लिए जब्बार अपनी बीवी शब्बो की नाक काट लेता है, भले ही फिर स्वयं अपनी जांघ से ताजा गोश्त निकालकर उसकी मरहम-पट्टी भी करता हो, जिसे उसकी जिद के कारण उसके बाप ने ढाई सौ रूपए देकर खरीदा है, जबकि दूसरी औरत साथ में मिल सकती थी, जितने रुपयों में तो, बकौल उसी के, फिरंगी की तोप आती है। 'कुत्ते की पूंछ' में वर्ग भेद का दर्प भी है और छोटे कहे-समझे जाने वाले लोगों के प्रति घृणा भी जो इंसान की तरह जी सकने की कोशिशों का प्रतिवाद करती है। 'तर्क का तूफान', 'परदा', 'गंडेरी', '80/100', 'या साईं सच्चे!' और 'आदमी का बच्चा' आदि इस काल की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों में से हैं। दूसरी ओर यशपाल ने कुछ ऐसी कहानियां भी लिखी हैं जो पूरे अर्थों में ऐतिहासिक न होने पर भी इतिहासबोध की कहानियां ही हैं। इन कहानियों में कभी वह इतिहास को 'वर्ग-संघर्ष' की दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं तो कभी वर्गगत रूपांतरण के परिणामस्वरूप साझे स्वार्थों के कारण राजा और पुरोहित-वर्ग के जोड़-तोड़ की कोशिशों पर प्रकाश डालते हैं। 'राजा', 'दासधर्म' और 'शंबूक' इस काल में लिखी गई ऐसी ही कहानियों के उदाहरण हैं। 'ज्ञानदान' में वह अकारण संगम और विवृति की कुंठाओं का संकेत करके जीवन को सारी सांसारिक सहजता में स्वीकार किए जाने की हिमायत करते हैं। 'तर्क का तूफान' में यशपाल प्रेम को शाश्वत मानने वाली रोमानी अवधारणा का तिरस्कार करते हैं। लता के अपने जीवन में आने की संभावना के बाद अवध शोभना का चित्र फ्रेम से निकालकर फेंक देता है—'उस शोभना की तरवीर जिसे अवध ने पूर्ण विश्वास से अपना हृदय सौंप दिया था। जिस शोभना ने अवध से बिछुड़ने पर प्राण त्याग देने की प्रतिज्ञा की थी और जो शोभना एक दिन अवध की, एक क्षण के लिए एक बार मिलने की प्रार्थना को अनसुनी कर, सब प्रतिज्ञाओं को भूल पिता के परामर्श से एक आई.सी.एस. बांह का सहारा

लेकर, समाचार-पत्र में अपना चित्र छपवा मधुयामिनी मनाने चली गई थी...<sup>12</sup> अरसे तक अवध उसका गम पीता रहा और इस झटके की तीव्रता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हृद दर्जे का खुशदिल और महफिलबाज आदमी लोगों के बीच जाने से कतराने लगता है। लेकिन फिर एक पार्टी में जबरन बुलाए जाने पर लता से उसकी भेंट एक लंबे सिलसिले का रूप ले लेती है और फिर एक दिन लता देखती है कि शोभना के चित्र के बिना उसका फ्रेम खाली पड़ा है। उसके बारे में पूछे जाने पर अवध उत्तर देता है... 'चली गई... जो परदा जीवन में आ सकने वाली किरण को रोके है, उस पर जीवन निछावर कर देने से लाभ?... जीवन का द्वार खुला रहना बेहतर है। शायद प्रकाश की दूसरी किरण मिल सके....'<sup>13</sup> 'परदा' और 'गंडेरी' में शोषित वर्ग के लोगों के प्रति लेखक की पक्षधरता बड़े कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति पा सकी है। 'परदा' मर्यादा के बोझ बन जाने की विडंबना को अंकित कर सकने की दृष्टि से भी एक सार्थक कहानी है।...

'दासधर्म' विचारों की दृष्टि से ही नहीं, चित्रित पृष्ठभूमि की नवीनता के कारण भी ध्यान खींचती है। इसमें समुद्री व्यापार और सार्थों की चर्चा विस्तार से हुई है। लेकिन कहानी का मूल संरकार मूल्य के द्वंद्व और नैतिकता के अंतर्विरोध को अंकित करना है। जो आंद्रेकस और दीमा कभी पति-पत्नी थे, एक दूसरे के लिए गहरे और आवेग भरे प्रेम से परिपूर्ण, वे ही समुद्री दरसुओं द्वारा लूटे जाकर दासों की तरह बेच दिए जाते हैं। महाराज सातवाहन जब शिथिल अंग निद्रा में बेसुध हो जाते हैं तो मर्दित शरीर और मर्दित वस्त्र दीमा अवसाद भरा मुख उठाए, भीगे नेत्रों से आंद्रेकस को देखती है जो अभी कल तक उसका प्रेमी और पति था। अवशभाव से वह उसकी बांहों में सिमट आती है। लेकिन एक क्षण में ही यह जो कुछ हो जाता है, बड़े सहज भाव से, वही घोर विनाशकारी स्थिति का कारण बनता है। सशस्त्र सैनिक उन दोनों को घेर लेते हैं। शोर सुनकर महाराज भी उठ बैठते हैं। क्रोध में उनका हाथ कृपाण की मूठ पर चला जाता है—दास की यह स्पर्धा!.. 'स्वामी की भोग्य नारी के स्पर्श की?... इतने वीभत्स अनाचार का दंड क्षणिक यातना की मृत्यु से? महापात अपराधियों को विचार के लिए पुनः उपस्थित करने की आज्ञा दे महाराज क्षुब्ध मन को स्थिर करने के लिए अंतःपुर में चले गए...'<sup>14</sup> दोनों के मृत शरीरों को एक साथ समाधि दी जाने की दीमा की प्रार्थना भी धर्माचार्य नीतिविज्ञों को पापमूलक अनाचार की प्रार्थना लगती है क्योंकि उनकी नीतिसंहिता के अनुसार 'स्वामी के प्रति विश्वासघात कर स्वर्ग की आशा करना अधर्म है। दास का केवल एक धर्म है, प्रभु सेवा!'<sup>15</sup> अपराध की गुरुता के अनुरूप ही दंड की व्यवस्था की जाती है—मत्त-गज के पांवों तले कुचले

जाने के बाद उन दोनों के क्षत-विक्षत शरीर राजप्रासाद के द्वार पर लटका दिए जाते हैं ताकि दूसरे दास भी इससे सबक हासिल कर सकें। 'शंबूक' भी इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के अतिविरोधों को प्रकट करती है। वह उस सोच का एक बेहद तीखा प्रतिवाद पेश करती है जो ब्राह्मण के वचन को ही न्याय मानकर, शूद्र कहकर मनुष्यों से एक बहुत बड़े वर्ग को सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित ही नहीं करती, उन पर निर्मम अत्याचार की स्वतंत्रता भी देती है।....

यशपाल के दूसरे दौर की कहानियों का रचनाकाल सन् '46 से सन् '54 तक का है। इस काल में प्रकाशित कहानी-संग्रहों को लेकर यह आसानी से समझा जा सकता है कि गुणात्मकता और संख्या दोनों दृष्टियों से, कहानी-रचना के क्षेत्र में, यह यशपाल के सर्जनात्मक जीवन का सर्वश्रेष्ठ काल ठहरता है। 'भस्मावृत चिंगारी', 'फूलों का कुरता', 'धर्म युद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ!' ये सब कहानी संग्रह इस काल में ही प्रकाशित हुए। किन्हीं अर्थों में इसे उनकी विस्फोटक वैचारिकता का काल भी कहा जा सकता है। अंतर्विरोधपूर्ण लगने पर भी वास्तविक स्थिति यही है कि तब जहां इनमें से कितनी ही कहानियों को लेकर यशपाल का घनघोर विरोध हुआ था, आज उनकी ही अधिकांश कहानियां, समय के एक लंबे अंतराल के बाद, एक कहानीकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा का मूलाधार बनी हुई हैं।.....

अपनी इन कहानियों में व्यक्त विचारों के प्रति यशपाल का अपना आग्रह भी सामान्य से कुछ ज्यादा ही रहा है। सन् '64 में जब मैं यशपाल के पास गया था तो उन्होंने अपना पुराना संग्रह 'भस्मावृत चिंगारी' मुझे भेंट किया था और उस पर यह इबारत उन्होंने लिखी थी... 'लेखक के प्रयोजन और दृष्टिकोण को समझने के विचार से पढ़ने के लिए...' जाहिर तौर पर प्रकाशन के इतने अरसे बाद अपनी किसी रचना को लेकर ऐसा कोई आग्रह उसी लेखक का हो सकता है जिसे इस बात का अहसास हो कि इस बीच उसके विचारों को कहीं न कहीं गलत समझा गया है और उस विवाद पर अब भी अंतिम परदा नहीं खींचा गया है।

'भस्मावृत चिंगारी' में यशपाल कला को जीवन से जोड़ने की एक विधायक कोशिश करते हैं। आदमी की बेचारगी और लाचारी का कला के नाम पर इस्तेमाल किए जाने का वह प्रतिवाद करते हैं। अपने जीवन की कीमत पर कला के लिए एक साधन मात्र बने रहने की स्थिति से उस मृतप्रायः व्यक्ति को उभार कर कहानी के 'मैं' में कला

के प्रति किसी किरम का कोई अपराध-बोध पैदा नहीं होता है बल्कि कला की कीमत पर किसी के जीवन की रक्षा को वह कहीं श्रेयस्कर समझता है.... 'मेरा दुर्भाग्य यह कि मुझमें अपने अपराध के लिए पश्चाताप का साहस भी नहीं है...' 16 इस तरह से यह कहानी यशपाल की मान्यताओं और रचना दृष्टि को लेकर काफी कुछ एक घोषणा पत्र की हैसियत रखती मालूम देती है। उनके यहां सब कुछ जीवन की अपनी शर्तों पर ग्राह्य और स्वीकार्य है। यह आग्रह उनके यहां इतना प्रबल है कि वह रूढ़ियों और जर्जरप्रायः परंपरा के बुतों को गहरे आक्रोश और निर्ममता से तोड़ते दिखाई देते हैं। बदली हुई स्थितियों में परंपरागत संस्कार से अपनी तथाकथित नैतिकता की रक्षा के प्रयास में हमारी स्थिति फूलों की तरह ही हास्यास्पद होती जा रही है।—...हम फूलों के कुरते के आंचल में शरण पाने का प्रयत्न कर उधड़ते चले जा रहे हैं और नया लेखक हमारे चेहरे से कुरता नीचे खींच देना चाहता है...। 17 यशपाल जीवन के सहज और स्वाभाविक विकास को कुंठित और अवरुद्ध करने वाली हर चीज़ को अस्वीकार करते हैं। यशपाल पर लिखे गए अपने लंबे संस्मरण में मैंने बहुत विस्तार से उन कारणों के विश्लेषण की कोशिश की है जो आर्यसमाजी संस्कारों की पृष्ठभूमि में उनके लालन-पालन के और शिक्षा-दीक्षा के बावजूद उनके प्रति उन्हें इस कदर असहिष्णु बना देते हैं। इस असहिष्णुता का ही परिणाम यह होता है कि जब भी मौका मिलता है वह उस समूची पृष्ठभूमि का नकारात्मक उपयोग करते दिखाई देते हैं। आर्यसमाज उनके लिए अकारण संयम, कुंठा और निषेध का पर्याय जैसा बन जाता है। इस काल की उनकी कितनी ही विवादास्पद कहानियां उनकी इसी सोच का परिणाम हैं। एक जमाने में यशपाल की रचनाओं में श्लील-अश्लील को लेकर जो एक बेमकसद तबील बहस उठाई जाती रही थी उसके मूल में भी जहां एक ओर उस बहस को उठाने वालों के लिए उनके संस्कारों पर चोट से पैदा हुई तिलमिलाहट थी वहीं यशपाल एलर्जी की सीमा तक पहुंची अपनी असहिष्णुता के कारण उस ओर कुछ अधिक ही उत्साही भी थे। आज इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि हिंदी कथा साहित्य में सेक्स को जिस सहजता से यशपाल ने लिया उस दृष्टि से वह एक अकेले और महत्वपूर्ण अपवाद ठहरते हैं। उस क्षेत्र में अकेले ही उन्होंने एक जबर्दस्त क्रांति उपस्थित की। भले ही उत्साह के अतिरेक में वह कभी कहीं डिरेल भी कर गए हों। 'फूलों का कुरता' की अपनी बहुत लंबी समीक्षा में, जो 'हंस' के दो अंकों में क्रमशः छपी थी, अमृतराय ने कहानियों पर साम्राज्यवाद के विषैले कीटाणु फैलाने की तोहमत लगाई थी। आज अमृतराय की उस समीक्षा का हश्र है... 'श्री अमृतराय मार्क्सवादी समीक्षक कहे जाते हैं। परंतु इस संदर्भ में उनकी

मान्यता घोर प्रतिक्रियावादी है। वे तथाकथित मर्यादा और नैतिकता के मानदंडों के मोह से ग्रस्त हो जाते हैं। क्या 'आतिथ्य' की घटना तथ्यहीन है? क्या 'प्रतिष्ठा का बोझ' समाज में घटित नहीं होता? क्या 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ।' की माया जैसी पीड़ित नारियों का इस संसार में कुछ अपना नहीं होता? क्या 'धर्म रक्षा' के नाम पर नारी जाति पर अत्याचार नहीं किया गया?... यशपाल ने इन कहानियों से एक दिशा दी है, इतिहास के अवमूल्यित पक्ष को नकारा है और इन घटनाओं के जनक वर्ग-चरित्र का पर्दाफाश किया है...।<sup>18</sup>

यौन प्रसंगों के अंकन को लेकर यशपाल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह उन्हें सामाजिक समस्याओं और अंतर्विरोधों से जोड़कर देखने पर बल देते हैं। 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ।' के मूल उत्स की चर्चा में अन्यत्र कर चुका हूँ। यहां सिर्फ एक बात की ओर संकेत करना काफी होगा। अशक की 'बेबसी' की तरह इस कहानी में भी स्त्री में पुरुष-संसर्ग की प्रबल इच्छा को अंकित किया गया है। लेकिन यशपाल माया की इस अतृप्त उत्तेजना के कारणों को सामाजिक और व्यवस्थागत विसंगतियों से जोड़ कर देखते हैं। उसका विवाह अपने से कहीं अधिक उम्र के व्यक्ति के साथ हुआ है जहां अपनी सूनी कोख के बावजूद वह कई जवान बच्चों की जबरन मां बना दी जाती है। उसकी कुंठा में, अभाव और कुढ़न ही शायद उसकी बीमारी के कारण हैं। उस अवस्था में उसकी ऐसी किसी इच्छा के संदर्भ में वह उन सामाजिक परिस्थितियों को अनदेखा नहीं करते जो इस समूची स्थिति के मूल में हैं। दूसरे और किसी किसम के शोषण की तरह यशपाल स्त्री के यौन शोषण को भी एक सामाजिक अपराध मानते हैं और उस हालत में वह उन स्थितियों के बदलाव पर बल देते हैं जो इस सबके लिए जिम्मेदार ठहरती हैं।

आर्यसमाजी निषेधात्मकता और अर्थहीन संयम की ही तरह दूसरी जिस चीज़ के प्रति यशपाल इतने असहिष्णु दिखाई पड़ते हैं वह है गांधीवादी आचार और दर्शन। उन्हें जब भी मौका मिलता है वह उनके समर्थकों के सिद्धांत और आचारगत वैषम्य को अंकित करते हैं। ऐसे अवसर पर वह खासतौर से व्यंग्य का सहारा लेते हैं और कभी हल्के उपहास के साथ तो कभी किंचित् आक्रोश के साथ वह छत की परतें छीलते दिखाई देते हैं। 'धर्मयुद्ध' में वह सत्याग्रह की समूची पद्धति का ही मजाक उड़ाते हैं। 'कंबलदान'—और आगे चलकर 'सत्य का द्वंद्व' आदि कहानियों में भी—उन्होंने आचारगत ऐसे ही अतिर्विरोधों को स्पष्ट किया है।

पहाड़ों का यशपाल के जीवन में एक विशेष आकर्षण रहा है। बचपन के यह संस्कार जीवन-भर उन्हें प्रभावित करते दिखाई देते हैं। स्वस्थ रहने और दूसरी जरूरी सुविधाएँ मिलने पर कभी वह नियमित रूप से हर वर्ष कुछ महीनों के लिए पहाड़ों पर जाते रहे थे। वैसे तो इस काल के और संग्रहों में भी पहाड़ी जीवन को लेकर लिखी गई उनकी कहानियाँ शामिल हैं लेकिन 'उत्तराधिकारी' की प्रायः सारी की सारी कहानियाँ पहाड़ी जीवन को ही आधार बन कर लिखी गई हैं। ये कहानियाँ कृष्ण चंदर की कश्मीर पर लिखी गई कहानियों से मूलतः भिन्न हैं। इन कहानियों में यदि एक ओर यशपाल पहाड़ों की सादगी और सरलता को बड़ी आत्मीयता से अंकित करते हैं तो दूसरी ओर वहाँ की गरीबी, अंधविश्वास और रूढ़ियों पर चोट भी करते हैं। 'मंगला', 'उत्तराधिकारी', 'कोकला डकैत', 'अमर', 'डिप्टी साहब' आदि कहानियाँ यदि एक ओर पहाड़ों की सादगी और भोलेपन, उनकी परंपराप्रियता और अंधविश्वासों को हमारे सामने लाती हैं तो दूसरी ओर वह उन तत्त्वों को भी उद्घाटित करती हैं जो इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं और उसका भरपूर लाभ भी उठाते हैं। और दुर्भाग्य से इन दोनों की ही शिकार स्त्री सबसे अधिक होती है...।

यशपाल की कहानियों का तीसरा और अंतिम दौर '55 से प्रारंभ होकर अंत तक चलता है। इस दौर की कहानियों को लेकर जिस ह्रास की बात पहले कही गई है उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि इन कहानियों में दूसरे दौर की कहानियों वाली विस्फोटक और आक्रामक विचारशीलता अपेक्षाकृत काफी कम दिखाई देती है। 'उत्तमी की मां', 'ओ भैरवी!', 'सच बोलने की भूल', 'खच्चर और आदमी' तथा 'भूख के तीन दिन' इस काल में प्रकाशित संग्रह में संकलित नहीं हैं। यशपाल चूंकि सामाजिक विसंगतियों और अंतर्विरोधों की प्रतिक्रिया से अपनी कहानियाँ बुनते हैं, कथ्य की दृष्टि से वह हमेशा ही एक सुरक्षित भूमि पर खड़े दिखाई देते हैं। समाज में जब तक उत्पीड़न, अन्याय और दूसरी विसंगतियाँ शेष हैं, उनकी कहानियों के स्रोत सूखने का सवाल ही पैदा नहीं होता। लेकिन कहानी की संभावना और एक सार्थक रचना के रूप में कहानी की उपलब्धि दो एकदम अलग बातें हैं। यही कारण है कि यशपाल को न तो कभी अज्ञेय की तरह कहानी से संन्यास लेने की बात सोचनी पड़ी और न ही जैनेन्द्र की तरह वह इस हद तक अप्रासंगिक हो गए कि आगे की कहानी की चर्चा उनके विरोध से शुरू करने की मजबूरी पैदा हो सके। दूसरे सब लेखकों की तरह यशपाल के यहां भी बहुत अच्छी और बहुत मामूली कहानियाँ एक साथ मिल जाती हैं और करीब-करीब हर दौर की कहानियों के साथ स्थिति कमोबेश ऐसी ही है। उनके दूसरे दौर की कहानियों को रचनात्मक उन्मेष की दृष्टि से अलग



करके देखे जाने का आग्रह केवल इसी आधार पर कोई औचित्य रखता है कि इस काल की कहानियों में उनके विचारों की आक्रामकता और विवादास्पदता तो महत्वपूर्ण है ही, रचनात्मक दृष्टि से उसका प्रतिफलन भी इस काल की कहानियों को जो संश्लिष्टता देता है वह अनुपात उन्हीं की दूसरे दौरों की कहानियों से कहीं ज्यादा उहरता है।

इस तीसरे और अंतिम दौर की कहानियों में यशपाल को पौराणिक संदर्भों की ओर मुड़ते देखकर अपने एक लेख में डॉ. नामवर सिंह ने इस स्थिति पर किसी कदर आश्चर्य प्रकट किया था कि आखिर क्या कारण है कि यशपाल और अज्ञेय दोनों की ही परिणति एक जैसी होती है? लेकिन अज्ञेय और यशपाल की यह परिणति एक जैसी हर्गिज नहीं है।

अज्ञेय के पौराणिक आख्यानों की ओर मुड़ना उनके पास कथ्य के अभाव की मजबूरी का परिणाम है जबकि यशपाल पौराणिक संदर्भों की ओर परंपरा की सामयिक और युगानुकूल व्याख्या की खातिर मुड़ते हैं। रचनात्मक रखलन की शिकार ये कहानियां हो सकती हैं लेकिन अज्ञेय की कहानियों की परिणति से इनकी परिणति निश्चय ही भिन्न है। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद 'अप्सरा का शाप' यशपाल की अभिरुचियों और सरोकारों को स्पष्ट कर सकने में सफल होती है। यशपाल की इन कहानियों को भी इसी रूप में लिया जाना चाहिए। इस काल की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों में 'उत्तमी की मां', 'पतिव्रता', 'करवा का व्रत', 'पाप की कीचड़', 'सच बोलने की भूल', 'एक हाथ की उंगलियाँ', 'सत्य का द्वंद्व', 'खच्चर और आदमी' तथा 'दाग ही दाग' आदि कहानियों के नाम लिए जा सकते हैं। प्रायः इन सभी कहानियों में यशपाल अपनी ही परंपरा की रक्षा में सक्रिय दिखाई देते हैं। 'उत्तमी की मां' और 'पाप की कीचड़' में वह फिर जीवन की सहजता पर अकारण कुंठाओं और निषेधों से मुक्त होकर, बल देते दिखाई देते हैं। धर्म कोई भी हो सकता है लेकिन धार्मिक संस्कारों से पैदा हुई जड़ता और अज्ञान सब कहीं एक-सा है जो मनुष्य की सहज प्रगति में बाधक बनकर खड़ा होता है। 'पाप की कीचड़' में रोजेरियो लंबे वैवाहिक जीवन के बावजूद अपनी पत्नी मार्था से कोई संबंध इसलिए नहीं रखता ताकि निर्दोष वह भगवान के पुत्र की शरण में पहुंच सके। धर्मपिता सेबिल की सलाह पर वह एक दिन शराब पी कर पत्नी से लड़ता है और बाद में वह सब भी होता है जिससे अब तक वह यत्नपूर्वक बचता रहा था। अरसे बाद फादर सेबिल से जब उसकी दुबारा भेंट होती है तो वह उसे अपराध-बोध से ग्रस्त पाते हैं। उस दिन की

घटनाओं और उनके परिणामों के लिए आज जैसे उसे दुःख है और तब फादर सेबिल उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं... 'प्रसन्नता की बात है। अब तुम भगवान की दया के पात्र हो गए हो।... उस सांझ की लड़ाई ने तुम्हारे हृदय पर से दंभ का ढकना उतार कर तुम्हें पृथ्वी का मनुष्य बना दिया।... अब तुम पुण्य का अहंकार छोड़कर संसार के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हो... 'पतिव्रता' और 'करवा का व्रत' आदि में वह प्रचलित नैतिकता के दोहरे प्रतिमानों की आलोचना करते हैं। 'कलाकार की आत्महत्या' में कला के नाम पर समाज के प्रति उत्तरदायित्वहीन रवैए की आलोचना की गई है।... इस दौर की बहुत सी कहानियों में वह बड़े स्थूल ढंग से कहानी के आशय को कहानी पर आरोपित कर देते हैं और तब एक रचना रूप के तौर पर उसकी संश्लिष्टता को निश्चय ही क्षति पहुंचती है।

यशपाल की कहानियों का रचनाकाल प्रायः चालीस वर्षों में फैला हुआ है। उनकी कहानी-यात्रा प्रेमचंद के जीवन काल में शुरू हो चुकी थी—भले ही कहानियों का प्रकाशन थोड़ा विलंब से शुरू हुआ हो। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपने को प्रेमचंद के प्रभाव से मुक्त ज़रूर किया, लेकिन एक बहुत बड़ी कीमत देकर। उनके उस सचेष्ट मुक्ति-प्रयास ने ही आगे चलकर कहानी की मूलधारा से ही काट कर उन्हें अलग कर दिया। यशपाल की अपनी कहानियां भी प्रेमचंद के अभाव से मुक्त और अछूती हैं और इसीलिए शायद वे इतनी तेजी से अपने लिए जगह बना सकने में सफल हुई थीं। लेकिन ऊपरी तौर पर उनके प्रभाव से बचकर चलने की सफल कोशिश के बावजूद वे कहीं न कहीं उनसे जुड़ती भी जरूर हैं। अपने ऊपर प्रेमचंद के प्रभाव की संभावना पर टिप्पणी करते हुए यशपाल ने लिखा है... 'मैंने सचेत रूप में कभी प्रेमचंद की परंपरा निबाहने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। प्रेमचंद की सप्रयोजन लिखने की प्रवृत्ति और कथा-कौशल का मेरे मन में बहुत आदर है।... हो सकता है उनकी सशक्त शैली ने अचेतन रूप से मुझे प्रभावित किया हो। उनके और मेरे आदर्शों में भेद स्पष्ट हैं। मेरे विचार में वह पाठक की सहृदयता को छूना चाहते हैं और मैं न्याय-बुद्धि को।'<sup>20</sup>

प्रेमचंद ने कहानी के क्षेत्र में स्वयं एक बहुत लंबा रास्ता तय किया था। विचारों की विकास की दृष्टि से उनकी स्थिति यशपाल से पर्याप्त भिन्न थी। 'पूस की रात' और 'कफन' जैसी कहानियों को मात्र सहृदयता के खाते में डाल देने से उनके प्रति अन्याय की संभावना बढ़ती है। सहृदयता का रास्ता हृदय परिवर्तन और सुधारवाद की ओर जाता है। प्रेमचंद की ये बाद की कहानियां हमारी न्यायबुद्धि को छूकर इन

स्थितियों के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज की बेचैनी पैदा करती हैं। यशपाल को वैचारिक विकास की इतनी मंजिलों से नहीं गुजरना पड़ा, इसीलिए वैचारिक एकरूपता उनमें अपेक्षाकृत अधिक है।

वैचारिक एकरूपता, निषेधों और वर्जनाओं से मुक्त सहज जीवन की ललक और सामाजिक विसंगतियों की तीखी पहचान के साथ ही उसके बदलाव की बेचैनी आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं जो यशपाल से चलकर आज की कहानी तक आते हैं। इसीलिए अपनी सारी सीमाओं के बीच और बावजूद यशपाल का महत्त्व अक्षुण्ण है। आज की कहानी की सोच की जो दिशा है उसमें यशपाल की कितनी ही कहानियां बतौर खाद इस्तेमाल हुई हैं। वर्तमान और आगत फसल की संभावनाओं को देखते हुए शायद उनकी सार्थकता भी है। '...

### संदर्भ

1. पिंजरे की उड़ान की भूमिका
2. वही, पृ. 51
3. वही, पृ. 52
4. वही पृ. 53
5. वो दुनिया, भूमिका, पृ. 6
6. तर्क का तूफान, भूमिका, पृ. 5
7. भरमावृत चिंगारी, भूमिका, पृ. 6
8. मैं कहानी कैसे लिखता हूँ?, 'कहानी' वार्षिकांक : 55, पृ. 389
9. 'कथा में शिल्प' शीर्षक लेख की टंकित प्रति से उद्धृत
10. 'नैतिक बल' शीर्षक कहानी की टंकित प्रति से उद्धृत
11. सामयिकी, पृ. 284
12. तर्क का तूफान, पृ. 39
13. वही, पृ. 40
14. अभिशप्त, पृ. 18
15. वही, पृ. 19
16. भरमावृत चिंगारी, पृ. 18
17. फूलों का कुरता, पृ. 7
18. यशपाल और मानिक वंद्योपाध्याय : सदाशिव द्विवेदी, पृ. 83
19. उत्तमी की मां, पृ. 120
20. यशपाल के पत्र: मधुरेश, पृ. 48